भारतीयों तक नहीं पहुंचाए जा सकेंगे।[5] राजनीतिक कारणों से यह सीधा-सच्चा विचार भी छोड़ दिया गया। अंग्रेजी न तो भारतीयों को आएगी, न वहां की भाषाओं को उखाड़ पाएगी, यह मानते हुए भी एल्फिंस्टन महोदय अंग्रेजी की सिफारिश कर बैठे, केवल इस कारण कि अंग्रेजी भाषा भारत में अंग्रेजी राज का स्थायी प्रतीक बनकर रहेगी।

स्वयं मकाले जब हृदय के अंतराल में झांकते थे तो भावविभोर हो उठते थे। भारत का अध्ययन करते तो कल्पना के पर्दे खोलकर झूलने लगते थे। वे याद करते धान के लहलहाते खेत, तरंग-भरे जलाशय, विशाल वृक्ष, जिन्होंने मुगल साम्राज्य को जड़ें पकड़ते देखा था और जिनकी छाया में गांव के लोग बैठते थे, छप्पर वाली छत, किसान की कुटिया, मस्जिद के मीनार और मक्काभिमुख नमाज़ पढ़ता इमाम, मृदंग की गूंज, फरफराते झंडे, आभूषित मूर्तियां, नृत्यमस्त देवकन्याएं, ग्राम सुंदरी सिर पर कलश लिए ताल की सीढ़ियां उतरती या नदिया की ओर बढ़ती हुई, शांत चेहरे, लंबी दाढ़ियां, केसरिया धूमिल रेखाएं, बसंती पगड़ियां, झूलते अंगरखे, लंबे भाले, रुपहली गदाएं[6], ये सब उनको प्रेरणा देती थीं। फिर उन्होंने इस देश को बर्बर क्यों कहा ? केवल पर-भाव के कारण, स्व-भाव के कारण नहीं। उन्होंने 7-3-1835 का प्रस्ताव लिखने के बाद भी 3-7-1836 को लिखा था कि जब किसी भारतीय बच्चे को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाया जाएगा तो वह भी मातृभाषा से ही पढ़ेगा। यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। बच्चे को विदेशी भाषा पढ़ाने का क्या अर्थ है ? केवल इतना कि विदेशी भाषा के कौन-से शब्द उसकी अपनी मातृभाषा के पर्यायवाची शब्दों के बराबर हैं और विषय-वस्तु का विदेशी भाषा से अपनी भाषा में अनुवाद करना। आज के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि मकाले अंग्रेजी पढ़ाने के डायरेक्ट मैथड में विश्वास नहीं करते थे। वे कहते थे कि सीधे तो हम केवल एक भाषा ही सीख सकते हैं और वह है हमारी मातृभाषा। मातृभाषा सीखते समय हम शब्द और अर्थ के सीधे संबंध को स्वाभाविक रूप में देखते हैं। किंतु इसके बाद जो भी भाषा हम सीखते हैं वह मातृभाषा और दूसरी भाषा के शब्दों के बीच पर्यायवाचन को समझकर ही सीखते हैं।[7] मकाले के मतानुसार सीधी तो एक ही भाषा सीखी जाती है। शेष सब अनुवाद-माध्यम से सीखी जाती हैं। मकाले स्वाभाविक भाषा के तथ्यों को जानते हुए भी राजनीतिवश अंग्रेज़ी का समर्थन कर बैठे और शिक्षा के स्थान पर विदेशी शब्दाडंबर की योजना बना बैठे। राजनीति की सेवा में वे अपने दिल की आवाज को दबा गए।

मकाले के 1835 के प्रस्ताव के पश्चात लोक शिक्षा समिति ने 1836 में भारतीय भाषाओं के प्रति अपनी नीति के विषय में लिखा है कि हम भारतीय भाषाओं के विकास के महत्त्व को भली भांति समझते हैं। हम यह भी मानते हैं कि 7-3-1835 का प्रस्ताव हमें ऐसा करने से नहीं रोकता और हम इसी विचार के आधार पर काम कर रहे हैं। 1835 के प्रस्ताव से पहले

5. नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 98
6. मकाले, वर्क्स, IX, पृ० 513-14
7. मकाले, 'मिनिट्स आन एज्यूकेशन', संकलित वुडरो (1862), पृ० 41

जो विचार-विनिमय हुआ था उसमें भारतीय भाषाओं के महत्त्व को सभी ने मोटे तौर पर पूर्णरूप से माना था। सरकार के पास तो केवल अंग्रेजी और प्राचीन भाषाओं के सापेक्ष महत्त्व का प्रश्न ही निर्णयार्थ भेजा गया था। इसलिए हम यह समझते हैं कि शिक्षा प्रस्ताव में 'यूरोपियन साहित्य और साइंस', 'केवल अंग्रेजी शिक्षा' और 'अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय जनता को अंग्रेजी साहित्य और साइंस का ज्ञान देना' इन शब्दों का आशय केवल इतना है कि हमारे शिक्षा संस्थानों में जो भारतीय विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं उनकी शिक्षा में संस्कृत और अरबी के माध्यम से, पूर्वी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से, यूरोपियन विद्या के शिक्षण को अधिमान मिले। जनसाधारण को जो भी शिक्षा दी जा सकती है वह किस भाषा के माध्यम से दी जाए, इस विषय से इन शब्दों का कोई संबंध नहीं है। शिक्षा प्रस्ताव पर निर्णय के दौरान यदि अंग्रेजी को अस्वीकार कर दिया जाता और प्राचीन भाषाओं को स्वीकार कर लिया जाता तो भी जनसाधारण को तो भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही शिक्षा मिलनी थी। हमारा मत यह है कि अंततोगत्वा हमारा ध्येय यह है कि भारतीय साहित्य का निर्माण किया जाए और उसी दिशा में सारा प्रयास और सारे साधन जुटाए जाएं।[8]

हम यह कह सकते हैं कि यह वैचारिक खींचातानी केवल शब्दों के आधार पर की गई थी। 1835 में भी मकाले के प्रस्ताव से दो सप्ताह पहले कमिटी के सामने यह तथ्य आ चुका था कि बंगाल में शिक्षा के क्षेत्र में जो कमजोरियां आ रही हैं उनमें सबसे बड़ी यह है कि शिक्षा में बंगाली भाषा की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा। यह बात सेक्रेटरी की 1833 की रिपोर्ट में कही गई थी। उस रिपोर्ट पर कमिटी ने जो टिप्पणी दी थी उस में दो बातें विशेष हैं : एक तो यह कि बंगला माध्यम से विद्यार्थियों की शिक्षा-उपलब्धियां संतोषजनक हैं और दूसरी यह कि बंगला संबंधी जो सुझाव दिए गए हैं हम उनसे सहमत होकर उनको स्वीकार करते हैं।[9] यदि मोटे तौर पर विद्यार्थियों की उपलब्धियों को संतोषजनक मान लिया गया था तो फिर बंगला संबंधी सुझाव तो और भी अधिक महत्त्व के हो गए। फिर कुछ दिन पश्चात् ही मकाले के प्रस्ताव में यह कह दिया गया कि भारतीय भाषाएं तो केवल जंगली भाषाओं की तरह अविकसित अवस्था में हैं। शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिक आधार पर खेंचातानी के वातावरण में भारतीय भाषाओं की ओर ध्यान कैसे दिया जाता ?

1836 में मकाले स्वयं कमिटी के अध्यक्ष थे। कमिटी की रिपोर्ट में भारतीय भाषा संबंधी जो बातें कही गई थीं उन पर क्या कार्यवाही की गई यह देखने की बात है। कमिटी की रिपोर्ट और मान्यताओं के आधार पर ही 1839 में भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाने के संबंध में एक प्रस्ताव लार्ड आकलैंड के सामने रखा गया। मकाले द्वारा तो कुछ किया जाना था ही नहीं, वे तो केवल अंग्रेजी-भक्त थे। वे भारतीय भाषाओं को इतना तुच्छ और हेय मानते थे कि उनके संबंध में किसी सुझाव का कोई मूल्य उनके लिए था ही नहीं। आकलैंड मोटे कामों

8. चार्ल्स ट्रेवेल्यन, 'द एज्यूकेशन आफ दि पीपल् आफ इंडिया', पृ० 22-23
9. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 230

में दक्ष थे और बारीकियों की ओर ध्यान देने की उनकी न इच्छा थी न आदत । इसलिए प्रस्ताव इस आधार पर रखा गया कि यदि भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम बना दिया गया तो पुस्तकों के तैयार करने में जो पैसा प्रारंभ में खर्च होगा उसके बाद पैसा और समय दोनों की बचत होगी । लार्ड आकलैंड ने इन सभी बातों को अपनी टिप्पणी में दुहराया, विशेषकर इस बात को कि यदि बंगला माध्यम से शिक्षण किया गया तो अंग्रेज अध्यापक के स्थान पर हिंदुस्तानी अध्यापक काम कर लेगा । रुपए की बचत होगी क्योंकि अंग्रेज को तो हिंदुस्तानी की अपेक्षा दो या तीन गुणा वेतन देना पड़ता है । इससे उन नौजवानों को भी काम मिल जाएगा जिन्होंने इंग्लिश कालेज में शिक्षा प्राप्त की है । एक सुझाव यह भी दिया गया था कि अंग्रेजी-निपुण ये अध्यापक जहां भारतीय भाषा के माध्यम से साहित्य और साइंस पढ़ाएंगे वहां भारतीय स्कूलों में विद्यार्थियों को प्रारंभिक इंग्लिश भी पढ़ा लेंगे । ये सुझाव बहुत ही सुंदर थे । इनके अनुसार शिक्षा विषय तो भारतीय भाषा-माध्यम से पढ़ाए जाने चाहिए थे, यही 1836 के कमिटी के सुझाव के अनुरूप भी था, साथ में अंग्रेजी भी भाषा के रूप में पढ़ाई जानी थी । यह सब सरकार की प्रशासन संबंधी आवश्यकताओं के अनुरूप ही था । शिक्षा और भाषा दोनों सुचारु रूप से चलते । किंतु आकलैंड महोदय ने केवल एकैवेति सिद्धांत को माना और वही एक नीति निर्धारित कर दी । अतः सारे सुझावों पर ध्यान देने के उपरांत उन्होंने लिखा कि मैंने डिस्ट्रिक्ट स्कूलों में भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम के रूप में लागू किए जाने पर विचार किया है किंतु सिद्धांत रूप में, क्योंकि यह परिवर्तन बहुत जल्दी तो किया भी नहीं जा सकता । प्रथम तो पुस्तकें ही तैयार नहीं हैं । दूसरे, इन पुस्तकों को पढ़ाने के लिए अध्यापक भी तैयार नहीं किए गए । तीसरे, इन सब संभावनाओं के प्रतिपक्ष एक पद्धति अपना ली गई है और उसे बदलने का अभी कोई सबल कारण दीखता नहीं । इसलिए उचित केवल यही है कि उसी पद्धति को आगे चलाकर देखा जाए और जो-जो सुधार उसमें हो सकते हैं उन्हीं को करके देखा जाए ।

इसके साथ-साथ आकलैंड महोदय ने शिक्षा के क्षेत्र में किए जा रहे दो बड़े प्रयोगों की चर्चा की, एक बंगाल में और दूसरा बंबई में । बंगाल में शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी जा रही थी और बंबई में प्रायः मराठी के माध्यम से दी जा रही थी । आकलैंड ने कहा कि इन दोनों प्रयोगों को ध्यान से देखा जाए और दोनों को पूर्ण रूप से विकसित होने दिया जाए । हो सकता है कि बंगाल में शिक्षा प्रक्रिया में विद्योपार्जन की कुछ ऐसी सुविधाएं रोक ली गई हों जिन्हें खुला छोड़ देना चाहिए था क्योंकि संभव है कि उनसे लाभ होता । यह भी संभव है कि बंबई के देहाती स्कूलों में शिक्षा-स्तर नीचा रह गया हो और वहीं पर रुक भी गया हो । हो सकता है कि बंबई पद्धति के नियामक सिद्धांतों में कोई ऐसी बात हो जो विद्यार्थियों, शिक्षकों, और स्वयं पद्धति को उन्नति और प्रगति करने के लिए आंतरिक प्रेरणा दे सके ।[10] हमारे विचार के अनुसार बात तो उचित थी किंतु दोनों प्रयोगों के सफलता या विफलता तक पहुंचने के लिए प्रतीक्षा करना तो सरकार का कर्तव्य था। प्रतीक्षा की गई या नहीं ? प्रतीक्षा ही तो नहीं की गई ।

10. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 146

बंगाल शिक्षा पद्धति के संबंध में एक और ठोस प्रस्ताव आकलैंड महोदय के सामने रखा गया । प्रश्न यह था कि जिला स्कूलों में बंगला को शिक्षा-माध्यम बना दिया जाए या नहीं ? लार्ड आकलैंड ने इस विषय पर जब विचार किया तो प्रश्न यह उठा दिया कि अंग्रेजी शिक्षा की अपेक्षा बंगला स्वीकार्य होगी या नहीं ? उनको कोई भी कारण ऐसा नहीं दीखा जिसके आधार पर वे यह कह सकते कि बंगला स्वीकार्य होगी । उन्होंने यह कह दिया कि विद्यार्थी केवल भारतीय भाषा पढ़ना-लिखना सीखने के लिए हमारे स्कूलों में नहीं आएंगे ! उन्होंने लिखा कि यह एक सच्चाई है कि जीवन में कोई छोटा-मोटा काम ले पाने के लिए केवल अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर लेना विद्यार्थियों का ध्येय बन चुका है । यह भी सौभाग्य का विषय है कि इस ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हुए वे एक ऐसे रास्ते पर आ जाते हैं जहां से उन्हें आगे और ऊंचे जाने की भी प्रेरणा मिल सकती है । भारतीय माध्यम से साधारण शिक्षा प्राप्त करने के लिए संभवतः उतने विद्यार्थी भी शायद नहीं आएं जितने इस समय अंग्रेजी के लिए आते हैं । फैसला सुना दिया गया ।[11]

बंगाल में अंग्रेजी-माध्यम शिक्षा प्रयोग सफल होने से पहले ही सफल मान लिया गया । यहां सफलता के प्रतिमान पर ध्यान देना आवश्यक दीखता है । प्रश्न है, शिक्षा क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? प्रकृति को पराकाष्ठा तक पहुंचाने की प्रक्रिया है शिक्षा । मनुष्य को स्वभावोन्मुख रखते-रखते उसका दिशा-निदेश शिक्षा प्रक्रिया का काम है । परंपरा और समाज व्यवस्था दोनों के संदर्भ में मनुष्य अपने कृतित्व की सिद्धि कर सके यही स्वस्थ शिक्षा-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है । सत्य, प्रेम, श्रद्धा, उन्नति, सामाजिकता, कृतित्व—ये मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं । समाज और शिक्षा दोनों का काम है कि इस दिशा में व्यक्ति को प्रेरणा दी जाए । इस प्रेरणा का माध्यम है मातृभाषा । इसके निमित्त हैं माता-पिता, आचार्य, समाज और समस्त मानवता, मातृभूमि । इन्हीं से प्रेरणा लेकर व्यक्ति अपने स्व-भाव के ही अनुसार राष्ट्रीय स्तर से अंतर्राष्ट्रीय और पूर्ण मानवीय स्तर तक उठ सकता है । किंतु अंग्रेजी पद्धति के अंदर तो स्व-भाव के स्थान पर पर-भाव आ गया । शिक्षा का ध्येय हो गया व्यवसाय, और प्रेरणा-स्रोत हो गया सरकार । नौकरी और रोटी के लिए तो अपने आप से भी संघर्ष करना पड़ सकता है, समाज और परंपरा तो दूर की बात है । भारत में जितने भी धर्म-परिवर्तन हुए वे कितने आत्मानुरूप थे और कितने व्यवसायानुरूप, यह खोज का विषय है । बंगाल में जो बंगला-प्रयोग किया जा रहा था और जिसे सफल घोषित होने से पहले ही विफल कर दिया गया वह स्वाभाविक नहीं था, वह पारभाविक था । स्वयं अंग्रेजी शिक्षाशास्त्रियों और प्रशासकों के कथन और कर्म दोनों से यही सिद्ध होता है । बंबई में हो रहे प्रयोग का परिणाम अभी आना था । वास्तव में स्व-भाव और पर-भाव के संघर्ष का सच्चा और नंगा रूप देखना हो तो बंबई प्रयोग पर दिए गए निर्णय में देखना चाहिए ।

11. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 148

14

समरथ का परनाला

बंगाल में नई शिक्षा का जो प्रयोग चल रहा था उसके दो पहलू सामने आए थे : एक था शिक्षा-भाषा और दूसरा भाषा-शिक्षा । शिक्षा-भाषा स्वाभाविक हो और इसी कारण मातृभाषा ही शिक्षा-माध्यम के रूप में स्वीकार हो, यह एक समस्या सामने आई थी । किंतु इस शिक्षा का रूप सांस्कृतिक, सामाजिक और परंपरा के अनुसार हो या व्यावसायिक यह दूसरी समस्या थी । व्यावसायिक पक्ष के सामने आते ही निर्णय भाषा-शिक्षा के पक्ष में हो गया । भाषा-शिक्षा अंग्रेजी के रूप में ही मान्य थी क्योंकि एक ओर तो विद्यार्थियों को जीविका के लिए शिक्षा चाहिए थी और दूसरी ओर सरकार को राजभक्ति की ओर शिक्षित वर्ग के मन को मोड़ देना था । शिक्षा और भाषा के मौलिक तथ्यों को जीविका और राजभक्ति की वेदी पर चढ़ा दिया गया ।

बंबई में भी अंग्रेजी और मराठी के बीच विवाद चल रहा था । बोर्ड आफ एज्यूकेशन में उसी प्रकार मतभेद चल रहा था जैसे सामान्य लोकशिक्षा समिति में पहले चला था । अध्यक्ष श्री अर्सकिन पैरी अंग्रेजी के पक्ष में थे । कर्नल जार्विस और सर जगन्नाथ शंकरसेठ जो बोर्ड के सदस्य थे, वे मराठी के पक्ष में थे । एक और सज्जन कैप्टेन कैंडी भी मराठी के पक्ष में थे ।

कैप्टेन कैंडी मनोवैज्ञानिक आधार पर भारतीय भाषा (मराठी) के पक्ष में थे और ऐतिहासिक और सामाजिक आधार पर संस्कृत और अंग्रेजी के पक्ष में थे । उन्होंने शिक्षा-प्रक्रिया और भाषा-विकास के विषय में जो विचार व्यक्त किए वे तर्कसंगत थे और मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तथ्यों पर आधारित थे । उन्होंने लिखा कि यदि भारत के लिए बौद्धिक और नैतिक विकास का योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाना है तो अंग्रेजी को उचित स्थान और महत्त्व मिलना तो चाहिए किंतु आवश्यकता से अधिक और अनुचित प्रोत्साहन उसे नहीं दिया जाना चाहिए । योजना के अंग हैं विचार और शिक्षा की विषय-वस्तु । इन्हीं के रूप में अंग्रेजी का योगदान हो सकता है न कि शिक्षा-भाषा के रूप में । जिस भाषा के माध्यम से जनता की शिक्षा हो सकती है वह न तो अंग्रेजी हो सकती है न संस्कृत, वह केवल उनकी अपनी भारतीय भाषा हो सकती है । संस्कृत वह विशाल भंडार है जहां से भारतीय भाषाओं के अंदर शक्ति और सौंदर्य का संचार हो सकता है । अतः संस्कृत का अध्ययन आवश्यक है । किंतु केवल उसी भंडार में से आज के लिए शिक्षा-विषयक सामग्री नहीं मिल सकती, न ही संस्कृत जनशिक्षा का माध्यम बन सकती है; थोड़े व्यक्तियों की शिक्षा का भले ही बन सके । यह कहने के पश्चात् कैप्टेन कैंडी ने सुझाव दिया कि शिक्षा विषय-वस्तु अर्थात् विचार और ज्ञान तो अंग्रेजीबद्ध साहित्य से लेना

पड़ेगा और शिक्षा के द्वारा उस ज्ञान-विचार वस्तु को जनता तक पहुंचाने के लिए उनकी अपनी भाषा को माध्यम बनाना होगा । भारतीय भाषा का विकास करके उसे माध्यम रूप में सशक्त बनाने के लिए संस्कृत का प्रयोग करना होगा । जिस भी व्यक्ति के पास आधुनिक भारतीय भाषा, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान होगा वह अपने देशवासियों की असीम सेवा कर सकेगा ।[1]

बंबई में यह विवाद लगभग दस वर्ष तक चलता रहा । बंबई शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष पैरी महोदय ने बोर्ड की 1845 की रिपोर्ट में अपने भाषा संबंधी विचार व्यक्त किए । उन्होंने यह चर्चा शिक्षा के संबंध में नहीं की बल्कि शासन के संबंध में की । उन्होंने कहा कि इसमें कोई संदेह नहीं और सरकार को पूर्णतया ज्ञात है कि सरकार और जनता के बीच जितना निकट का संचार-संबंध होगा दोनों के लिए उतना ही श्रेयस्कर होगा । केवल निकटवर्ती संचार-प्रक्रिया से ही शिकायतें सुनी जा सकती हैं और दूर की जा सकती हैं । परंपरागत संचार के द्वारा ही सामान्य सुधार संबंधी सरकार के विचारों को समझा जा सकता है और बिचौलियों की ठगी और भ्रष्टाचार को रोका जा सकता है । इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सरकार ने जोर दिया है कि हमारे यूरोपियन कर्मचारी भारतीय भाषाएं सीखें । हां, यदि भारतीय लोग अंग्रेजी भाषा सीख लें तो इस दिशा में और भी अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं ।[2]

स्पष्ट दीखता है कि अध्यक्ष महोदय चाहते थे कि अंग्रेजों के भारतीय भाषा सीखने की बजाय भारतीय अंग्रेजी सीखें । ऐसा कहने के लिए थोड़ी चिकनी-चुपड़ी भी लगानी पड़ी । लिखा है कि भाषा सीखने में अंग्रेज बड़े ही खराब हैं और स्काटलैंड वाले उनसे भी गए गुजरे हैं । इसके अतिरिक्त वे पूर्वी भाषाएं बड़ी आयु में सीखते हैं जबकि जिह्वादि वाक्-संबंधी अंग और बोलने का तरीका पक चुकते हैं । बूढ़े तोते सीखते नहीं । हिंदुस्तानियों में भाषा सीखने की अद्भुत क्षमता है । ठेठ किसान वर्ग से ऊपर के सभी लोग कम से कम दो भाषाएं तो जानते ही हैं । जो भी अंग्रेजी सीखते हैं वे विदेशी भाषा सीखने के लिए जो सबसे अच्छा समय (अर्थात् आयु) है तभी प्रारंभ करते हैं । इस समय यद्यपि सरकारी सेवारत यूरोपियनों के लिए भारती का ज्ञान अनिवार्य है और भारतीयों को अंग्रेजी सीखने के लिए सरकार ने कोई विशेष प्रोत्साहन भी नहीं दिया है फिर भी एक अंग्रेज की अपेक्षा (जो गुजराती या मराठी में ठीक तरह पत्र लिख सकता है) पचास हिंदुस्तानी ऐसे हैं जो तत्काल ही शुद्ध अंग्रेजी में पत्र लिख सकते हैं । हम यह तो नहीं कहते कि यूरोपियनों की भारतीय भाषा सीखने की जो जिम्मेदारी है उसे किसी प्रकार भी कम होने दिया जाए किंतु समय की मांग यह है कि भारतीयों को अंग्रेजी सीखने का प्रोत्साहन दिया जाए । उनको सरकार के निकट लाने का यही एक तरीका है ।[3] शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष शिक्षा और शिक्षा

---

1. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 99-100—यह उद्धरण शिक्षा बोर्ड की 1840-41 की रिपोर्ट से लिया गया है ।
2. 'बम्बई शिक्षा बोर्ड रिपोर्ट 1849', परिशिष्ट, पैरा 25
3. वही ।

भाषा की बात नहीं कर रहे थे । वे शासन और नीति की बात कर रहे थे और तदर्थ शासन-भाषा और भाषा-शिक्षा की बात कर रहे थे ।

कर्नल जार्विस शिक्षा-प्रेमी थे और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को पहचानते थे । यदि वे भी शासक की तरह बात करते तो मशीन की तरह बोलते । वे ऐसा मानते थे कि शिक्षा वास्तव में मानव के अनुभव के विकास और विस्तार की प्रक्रिया है । अनुभव का संबंध मन और बुद्धि से है । अतएव शिक्षा और शिक्षा-माध्यम दोनों का शिक्षार्थी के अनुभव, मन और बुद्धि से स्वाभाविक संबंध होना चाहिए अन्यथा शिक्षा केवल परिचयात्मक और अधिक से अधिक व्यवसायात्मक होकर रह जाएगी और मनुष्य के अंतरात्मा को नहीं छू पाएगी । उन्होंने कहा कि शिक्षा का माध्यम केवल वह भाषा होनी चाहिए जो बच्चे के मन और बुद्धि में समा गई हो । इसलिए अंग्रेजी को भारतीयों के बौद्धिक विकास का माध्यम बनाने का अर्थ है उनको वास्तविक शिक्षा से वंचित रखना । हां, यदि अंग्रेजी से भारतीयों का इतना गहरा संपर्क हो सके कि उनकी अपनी भाषा पीछे छूट जाए और वे अंग्रेजी में ही सोचना प्रारंभ कर दें तो दूसरी बात है । परंतु यह हो नहीं सकता । फिर भी यह विचित्र बात है कि अंग्रेजी को भारतीयों की एकमात्र भाषा बनाने के इतने कड़े प्रयास किए जा रहे हैं । ऐसे अतिवादी विचार पर ध्यान देना आवश्यक तो नहीं है, फिर भी इतना कह देना तो उचित ही रहेगा कि जैसे-जैसे शिक्षा को मात्र अंग्रेजी तक सीमित रखेंगे वैसे ही स्वयं शिक्षा भी केवल चंद क्लर्कों और छोटे-मोटे सरकारी और प्राइवेट एजेंटों तक सीमित रह जाएगी । कुछ थोड़े से लोग, शिक्षित और प्रबुद्ध अवश्य होंगे किंतु वे भी उसी शिक्षा और प्रबोध के कारण अपने साथियों से कट जाएंगे ।[4]

कर्नल जार्विस ने जो बात कही ऐसा लगता है कि वह भारत की परंपरा की गहनतम कंदराओं में से निकल के आई थी । मानो वे यह कह रहे थे : मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद । शिक्षा की भाषा हार्दिक संवेदना की भाषा होनी चाहिए, वही भाषा जो—जैसे गांधी जी ने बाद में कहा—बच्चे को मां के दूध के साथ मिली है । उन्होंने कहा कि हमें शिक्षा-प्रक्रिया में उस भाषा का आह्वान करना चाहिए जो लोक कवि और कथाकार की गाथाओं में मिलती है । और उसी भाषा को एक नई दिशा देनी चाहिए क्योंकि इसी प्रकार भारतीय समाज के लिए हम एक नए साहित्य और नई सन्नैतिकता का सर्जन एवं निर्माण कर पाएंगे । अन्यथा सरकारी विधान में अंग्रेजी की छत्रछाया के नीचे उनका विकास और उन्नति अवरुद्ध हो जाएगी । उन्होंने दो टूक बात कही : अंग्रेजी के माध्यम से हम भारत के लोगों को कोई जागृति प्रदान नहीं कर सकते, उनकी शिक्षा केवल उस भाषा के माध्यम से हो सकती है जो उनके आत्मा की आवाज है जिसे वे पहचानते हैं और जिसका प्रयोग करते हैं । इसलिए यदि यूरोपियन शिक्षा वस्तु उन तक पहुंचाना है तो उसी भाषा में सीधा अनुवाद करके पहुंचाना चाहिए । और यह और भी अच्छा हो कि यूरोपियन विचार, भावनाएं और तथ्य भारतीय भाषा वेश में मौलिक रूप से लेकर उन तक पहुंचे । प्रारंभ में तो अनुवाद ही करना पड़ेगा । तत्पश्चात् यूरोपियन विषय-वस्तु का भारतीय

4. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13

रूपांतर काम में लाना होगा । अंततोगत्वा भारत के लोग स्वयं अपने नए साहित्य का सर्जन करेंगे जो इंग्लिश स्रोत से निकलेगा और उनके अनुरूप भी होगा किंतु मात्र शाब्दांतर न होकर सर्जनात्मक और रचनात्मक होगा ।[5] जार्विस महोदय के मतानुसार भाषा और साहित्य तैयार माल के रूप में इम्पोर्ट नहीं किए जा सकते, कच्चा माल इम्पोर्ट करके उसे भारत के अनुरूप अवश्य बनाया जा सकता था ।

प्रारंभ से, विशेषकर एल्फिंस्टन, राममोहन राय और तत्पश्चात् मकाले के मतानुसार भी, एक विचारधारा निरंतर चलती रही थी और वह यह थी कि अंग्रेजी को एक क्लासिकल भाषा के रूप में पढ़ाया जाए । योजना केवल वर्ग-विशेष को पढ़ाने की थी । विचार यह था कि जैसे यूरोप में लैटिन और भारत में संस्कृत पढ़ाई जाती थी वैसे ही नए भारत में अंग्रेजी पढ़ाई जाए । साथ में यह भी कहा गया कि अंग्रेजी तो माडर्न भाषा है और देश की उन्नति केवल एक माडर्न भाषा के माध्यम से ही हो सकती है । संस्कृत के माध्यम से संभव ही नहीं है । बनारस संस्कृत कालेज खोले जाने की योजना का राजा राममोहन राय ने विरोध किया था और लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था कि भारत की दशा उन्नीसवीं शती में एकसी ही थी जैसे मध्ययुग के अंत में यूरोप की थी । यूरोप को माडर्न बनाने के लिए लैटिन को छोड़ना पड़ा था । सारे यूरोप ने माडर्न भाषाओं को अपना लिया था । राममोहन राय ने कहा कि जैसे यूरोप ने लैटिन को छोड दिया था वैसे ही भारत को भी संस्कृत को छोड़ना पड़ेगा, माडर्न भाषा को अपनाना पड़ेगा । उनके मतानुसार वह माडर्न भाषा थी अंग्रेजी । इस दलील के अंदर जैसे हम पहले कह चुके हैं एक आंतरिक विरोध आ गया था जिसे कोई भी उस समय नहीं देख पाया । राममोहन राय भी नहीं देख सके । संस्कृत इसलिए नहीं पढ़ाना कि वह क्लासिकल है माडर्न नहीं है, और अंग्रेजी इसलिए पढ़ाना है कि वह माडर्न है क्लासिकल नहीं, और फिर भी उसे क्लासिकल भाषा के रूप में पढ़ाना है । जैसे अंग्रेजी तो खांड की रोटी बन गई । माडर्न मानो तो माडर्न है, क्लासिकल मानो तो क्लासिकल है । इस आंतरिक विरोध को जार्विस महोदय ने देखा था और बड़े सबल शब्दों में व्यक्त किया था । उन्होंने कहा था कि यदि भारत में शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी गई तो भारत वैसे ही वैचारिक गुलामी की जंजीरों में जकड़ जाएगा जैसे मध्यकाल में यूरोप और इंग्लैंड लैटिन की जंजीरों में जकड़े हुए थे । यदि भारत को नया जीवन और नई शक्ति की आवश्यकता है तो वह केवल भारत की अपनी आधुनिक भाषाओं के माध्यम से ही पूरी हो सकती है । वह शक्ति केवल संस्कृत के माध्यम से भी नहीं मिल सकती । उनके मत में संस्कृत तो लैटिन की समकक्ष थी किंतु अंग्रेजी भारतीय भाषाओं की समकक्ष नहीं थी । इंग्लैंड में अंग्रेजी की समकक्ष थी भारत में भारती, अर्थात् भारतीय आधुनिक भाषाएं । यह दलील सही थी, तर्कसंगत थी, आज भी सच्ची है ।

भारत में सरकार द्वारा अंग्रेजी भाषा को प्रमुख भाषा और आवश्यक बौद्धिक और व्यावसायिक योग्यता मानक के रूप में स्वीकारा जा रहा था । जार्विस महोदय ने लिखा कि यदि

5. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13

भारत में अंग्रेजी को ही प्रमुख भाषा माना गया तो ऐसा लेगा कि हम अपने तीन सौ वर्ष के यूरोपियन इतिहास से कोई लाभ नहीं उठाना चाहते और वह अनुभव हमारे लिए व्यर्थ हो गया है। तीन सौ वर्ष पूर्व केवल लैटिन ही एकमात्र यूरोपियन साहित्य की भाषा थी। परिणामस्वरूप लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान कतिपय विद्वानों और साहित्यकारों तक ही सीमित रह गया। उस समय जनभाषाएं गंवारू बोलियां समझी जाती थीं और ये सब लैटिन के आधिपत्य के बोझ से दबी हुई थीं। फिर समय आया और लैटिन का आधिपत्य समाप्त हो गया। यूरोप की नई और तत्कालीन भाषाएं आजाद हो गईं और तभी जनसाधारण को अपनी भाषा के माध्यम से ज्ञानार्जन का सुअवसर मिला। विद्या किसी एक व्यक्ति या वर्ग-विशेष की बपौती नहीं रही। उसका साधारणीकरण हो गया। क्या भारत में हम उस इतिहास को नकार दें ? क्या मुट्ठी-भर शासकों की भाषा को करोड़ों के इस विशाल जनसमुदाय के सिर पर लाद दें ? नहीं। मैं तो यह कहूंगा कि हमारा प्रमुख और परम कर्त्तव्य यह है कि हम भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास करें और उन्हें अपने बचपन से निकल कर प्रौढ़ अवस्था तक पहुंचने का अवसर दें। अपनी समकक्ष क्लासिकल भाषाओं की सहायता से वे समृद्ध बन जाएंगी और अद्‌भुत अभिव्यंजना शक्ति को प्राप्त होंगी जो आज उनमें नहीं है। विचारों और विचारांशों का परस्पर सहयोग और संबंध, उनका सूक्ष्म वैभिन्न्य और क्रमांतर तर्क-वितर्क प्रक्रिया के विभिन्न सोपान, मानसिक और बौद्धिक व्यवहार की अभिव्यक्ति, सहज और सरलतम विचार से लेकर सूक्ष्मतम विचारों की अभिव्यक्ति कर पाना भाषा की प्रौढ़ता का प्रमाण है, वही भारतीय भाषाएं प्राप्त कर लेंगी।[6]

जार्विस महोदय की विचारधारा अद्‌भुत थी। अंग्रेज तो अंग्रेज, राममोहन राय भी अंग्रेजी के रोमांस में बह गए थे। आर्थर मेह्यू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द एज्यूकेशन आफ इंडिया' (1926) में भारत में अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम पर एक बड़ी रोचक टिप्पणी की है। वे कहते हैं कि भारत में अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम बनाना बिल्कुल वैसा ही था जैसे इंग्लैंड में शिक्षा का माध्यम संस्कृत या हिंदी को बना देना। लैटिन तो सारे यूरोप की परंपरा का अंग थी और अंग्रेजी की मां नहीं तो सगी मौसी तो अवश्य थी। लैटिन की देन अंग्रेजी को वही है जो संस्कृत की देन हिंदी आदि को है। भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी, अथवा संस्कृत और अंग्रेजी, का तो बहुत ही दूर का संबंध है और दोनों की वाक्य-रचना बिल्कुल भिन्न है। भारत में अंग्रेजी की तुलना इंग्लैंड में लैटिन से नहीं बल्कि इंग्लैंड में भारतीय भाषा से करनी चाहिए। थोड़ी देर के लिए साम्राज्य को भूल जाएं तो दोनों स्थितियां वाहियात मालूम होती हैं।

अंत में जार्विस महोदय ने एक प्रश्न पूछा : क्या आप ब्रिटिश कपड़े के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य को भी इम्पोर्ट करना चाहते हैं ? क्या आपकी योजना यह है कि कपड़े की तरह से प्रत्येक भारतवासी अंग्रेजी भाषा और साहित्य का भी प्रयोग करे ? किसी भी विचारशील आदमी को यह बात गलत मालूम होगी। यदि भारतीय लोगों का कभी कोई अपना साहित्य होना है तो यहीं से उपजेगा। विषय-वस्तु तो काफी हद तक यूरोपियन हो सकती है किंतु

6. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13

उसकी कताई-बुनाई भारतीय विषय-वस्तु के साथ मिलाकर भारत में होनी चाहिए और फैशन तो भारतीय होना ही चाहिए।[7] जार्विस महोदय के विचार, तर्क तथा शैली अकाट्य थी लेकिन उन्हें काटने की आवश्यकता किसी को थी नहीं। जार्विस महोदय ने ये विचार 1845 की बोर्ड-रिपोर्ट पर अध्यक्ष के निर्णय पर टिप्पणी करते हुए व्यक्त किए थे। इनका महत्त्व केवल वैचारिक रहा।

दूसरे सज्जन जिन्होंने अध्यक्ष के निर्णय के साथ विरोध प्रकट किया सर जगन्नाथ शंकरसेठ थे। अध्यक्ष महोदय ने बोर्ड की 1845 की रिपोर्ट पर नोट दिया था कि हमें भारतीय भाषा के शिक्षा-माध्यम बनाने और भारतीय साहित्य के निर्माण का पूरा-पूरा ध्यान है। किंतु सर जगन्नाथ को यह लगा कि वास्तव में भारतीय भाषा को उतना प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा था जितना आवश्यक था। भारतीय भाषा के अध्यापकों का वेतन कम था और विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां भी नहीं दी जा रही थीं। अतः उन्होंने बोर्ड के अध्यक्ष एवं गवर्नर महोदय को यह लिखा कि सरकार को यदि जनता की शिक्षा के लिए काम करना है तो वह केवल भारतीय भाषा के माध्यम से किया जा सकता है। यह काम अंग्रेजी के माध्यम से नहीं किया जा सकता क्योंकि अंग्रेजी और उनकी अपनी भाषा में बहुत अधिक अंतर है। उन्होंने कहा कि प्रारंभ में तो सरकार ने जनता की शिक्षा के लिए भारतीय भाषा को ही अपनाया था। एल्फिंस्टन महोदय ने भी इसी दिशा में प्रयास किया था। बाद में जब धनी-मानी लोगों ने एल्फिंस्टन प्रोफेसरशिप्स के लिए दान दिया तो इसी आशय से दिया था कि भारतीय भाषा की अवहेलना नहीं की जाएगी। अपितु उसका विकास किया जाएगा। कुछ समय के लिए भारतीय दिशा में प्रयास किया गया और वह सफल भी हुआ किंतु बाद में छोड़ दिया गया। परिणामस्वरूप ये भाषाएं पिछड़ी अवस्था में ही पड़ी रहीं और अब उन्हें यूरोपियन साइंस साहित्य इत्यादि के माध्यम रूप में सशक्त बनाने के लिए बड़े भारी प्रयास की आवश्यकता है जो जनशिक्षा के हित में अवश्यमेव किया जाना चाहिए।

सर जगन्नाथ यह नहीं चाहते थे कि अंग्रेजी की अवहेलना की जाए। वे दोनों भाषाओं की शिक्षा में विश्वास रखते थे, किंतु उनका कहना था कि भारतीय भाषा को छोड़कर अंग्रेजी की शिक्षा न तो उचित होगी और न सफल होगी। वे कहते थे कि पहले भारतीय भाषा की शिक्षा पक्की होनी चाहिए और उसका विकास भी होना चाहिए। अंग्रेजी आए किंतु मातृभाषा के पश्चात् और उसी के आधार पर। यदि पहली भाषा के पश्चात् अंग्रेजी का अध्ययन दूसरी भाषा के रूप में किया जाएगा तो अंग्रेजी जल्दी आएगी और शिक्षा की गति भी दस गुणा बढ़ जाएगी। किंतु किसी हालत में और कभी भी अंग्रेजी भारतीय भाषा का स्थान नहीं ले पाएगी और न वह जनता की शिक्षा का माध्यम बन पाएगी, क्योंकि वह जनता से बहुत दूर की चीज़ है।[8]

सरकार और सर जगन्नाथ वास्तव में दो अलग-अलग बातें कर रहे थे। सर जगन्नाथ तो शिक्षा और शिक्षा-भाषा की बात कर रहे थे और सरकार भाषा-शिक्षा में रुचि रखती थी। सर

7. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13
8. वही, पृ० 16-17

जगन्नाथ जनशिक्षा की बात कर रहे थे और सरकार केवल वर्ग-विशेष की शिक्षा की । सर जगन्नाथ जनसेवा की बात कर रहे थे और सरकार राजसेवा की । अतः दोनों का तालमेल बैठ नहीं सकता था । परिस्थितियां भी काफी हद तक भारतीय भाषा के अनुकूल नहीं थीं । स्वयं सर जगन्नाथ ने माना था और बिना संकोच के माना था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने की लोगों के मन में बड़ी उत्कट इच्छा थी । यह इच्छा थी भी बड़े पैमाने पर और माता-पिता बड़ी उत्सुकता से अपने बच्चों को भारतीय स्कूलों से हटाकर अंग्रेजी स्कूलों में प्रवेश दिलाना चाह रहे थे । उन सबका ध्येय एक ही था : सरकारी नौकरी और यूरोपियन लोगों से संपर्क जोड़ने का माध्यम जुटाना । सर जगन्नाथ ने यह सब कुछ देखा तो, किंतु वे इस बरसाती बाढ़ के साथ बहना नहीं चाहते थे और सामयिक से शाश्वत की ओर उठना चाहते थे । अतः उन्होंने निर्भीक होकर लिखा कि समस्त देश की भाषा को बदलना असंभव और आशातीत है । सारी जनता में कितने लोग अंग्रेजी जानते हैं या जानने की आशा कर सकते हैं ? बहुत थोड़े, केवल नगण्य ।[9]

सिद्धांत रूप में भारतीय भाषावादी और अंग्रेजीवादी तथ्यों में विशेष भेद नहीं था—केवल ग्रांट इत्यादि को छोड़कर । हम देख चुके हैं कि स्वयं मकाले ने अपने प्रस्ताव के एक वर्ष पश्चात् ही सामान्य लोकशिक्षा समिति के अध्यक्ष के नाते यह माना था कि अंततोगत्वा समिति का उद्देश्य है भारतीय साहित्य का निर्माण । यह बात आकलैंड भी मानते थे और बंबई के गवर्नर भी मानते थे । ये सिद्धांत थे :

1. जनता की शिक्षा 'भारतीय भाषा के माध्यम से', तदर्थ भारतीय भाषाओं का विकास, और भारतीय साहित्य का निर्माण ।
2. अंग्रेजी भाषा नई शिक्षा के उपयुक्त यूरोपियन शिक्षा विषय-वस्तु का स्रोत है और भारतीय भाषाओं के विकास का साधन ।
3. जनशिक्षा केवल अंग्रेजी के माध्यम से नहीं हो सकती, केवल भारतीय भाषा के माध्यम से हो सकती है ।
4. नए शिक्षार्थी भारतीय भाषा और अंग्रेजी दोनों सीखें तो उपयुक्त रहेगा ।

यह सब मानते हुए भी सरकारी शिक्षा-नीति में केवल अंग्रेजी को स्थान मिला । कैप्टेन कैंडी, कर्नल जार्विस और सर जगन्नाथ इन सबके विचार और सुझाव कोई काम न कर सके ।

बंबई गवर्नमेंट आर्डर इस प्रकार पास किया गया : (नंबर केवल विषय-विश्लेषण के लिए लगा दिए गए हैं) :

1. गवर्नर महोदय के मत में यदि कोई भी भारतीय और अंग्रेजी स्कूलों के विद्यार्थियों की अपने शिक्षा-विषयों में प्राप्त योग्यता का निरीक्षण करे और दोनों की तुलना करे तो उसे विश्वास हो जाएगा कि भारतीय स्कूलों के विद्यार्थियों का ज्ञान अधिक पक्का और यथार्थ है ।
2. वे भारतीय भाषा के पक्ष में इस बात से भी सहमत हैं और उन्हें यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं है कि जनता की शिक्षा के क्षेत्र में सरकार का सारा प्रयास उस भाषा के विकास में लगाया जाना चाहिए जिसे बच्चे बचपन से ही जानते हैं ।
3. साथ ही साथ वे विद्यार्थियों को हर संभव अवसर दिलाएंगे कि बच्चे ऊंची शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त कर सकें ।

अभी तक अंग्रेजी की शिक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है, किंतु पूर्व इसके कि भारतीय लोग बुद्धि-विकास और नैतिकता की नई दिशा में अग्रसर हों और नई शिक्षा की गहरी और पक्की छाप भारतीयों के मन पर लगे यह आवश्यक होगा कि इस शिक्षा प्रक्रिया को पलट दिया जाए ।

1. जनता में स्वस्थ और युक्तियुक्त शिक्षा के प्रचार के लिए भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाया जाए ।
2. यह आवश्यक होगा कि ग्राम और जिला स्कूल जहां पर भारतीय माध्यम प्रचलित है उनका स्तर और कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए विशेष प्रयास किया जाए ।
3. भारती स्कूलों की क्षमता को बढ़ाने के लिए अत्यावश्यक है कि उच्च शिक्षा-प्राप्त अध्यापकों की एक श्रेणी तैयार की जाए और उनकी ऊंची योग्यता के अनुरूप उनका वेतन भी बढ़ाया जाए क्योंकि इस समय तो उनको बहुत ही थोड़ा वेतन मिल रहा है ।

कुछ लोगों का विचार है कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा-प्रचार संभव नहीं है । उनके मतानुसार कारण ये हैं :

1. शिक्षा-प्रचारार्थ भारतीय भाषा में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है ।
2. साहित्याभाव की पूर्ति अनुवाद से भी नहीं की जा सकती ।

गवर्नर महोदय के मतानुसार अनुवाद संबंधी कठिनाइयां अतिशयोक्ति दिखाई देती है । वर्षों पूर्व जो काम कर्नल जार्विस और डा० मेकलेनन के उत्साहपूर्ण प्रयासों से संभव हो सका था वह अब भी हो सकता है, केवल भारतीयों और भारतीय भाषाओं के विकास और उन्नति के प्रति सच्ची लगन की आवश्यकता है ।

पर्याप्त मात्रा में अपेक्षित साहित्य और पुस्तकें उपलब्ध कराने का उत्तरदायित्व सरकार पर है । सरकार इस बात के लिए तैयार है कि कर्नल जार्विस द्वारा प्रस्तावित तरीके से शुल्क देकर अथवा अपने ही अफसरों की देख-रेख में अनुवाद करवाने के अच्छे से अच्छे तरीकों पर विचार करने को तैयार है ।

यह सारा विचार करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह निर्णय लिया गया है कि

9. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 16-17

1. वर्तमान पद्धति (अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा पद्धति) यथासंभव अच्छी से अच्छी हालत में चलाई जानी चाहिए । जो कोई भी अंग्रेजी भाषा-माध्यम से अंग्रेजी शिक्षा से लाभान्वित होना चाहें उन्हें प्रवेश दिया जाए ।
2. भारतीय भाषा क्लासों और भारतीय स्कूलों के माध्यम से शिक्षा-प्रचार में मुख्यतम और अधिकतम प्रयास किए जाएं ।
3. भारतीय भाषा में अच्छे प्रारंभिक ग्रंथ साइंस, साहित्य और नीतिशास्त्र विषयों पर उपलब्ध कराए जाएं ।
4. अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा-प्रचार का कार्य प्रत्येक सूबे में एक स्कूल और प्रेजीडेंसी में कालेज तक सीमित रखा जाए ।
5. वहां भी (अर्थात् अंग्रेजी स्कूल और कालेज में) जैसे-जैसे अनुवाद की सुविधा प्राप्त हो वैसे-वैसे उच्चतर विषय भारतीय भाषा के माध्यम से भी पढ़ाए जाएं ।[10]

गवर्नर महोदय के आदेश के अंदर सिद्धांत रूप में भारतीय भाषा के पक्ष में सारी बातें आ गई थीं । ऐसा लगता है कि अंततोगत्वा सरकार का सारा प्रयास भारतीय भाषा, साहित्य और शिक्षा की दिशा में ही लगना था । किंतु हुआ यही कि कहने को तो आप ठीक कह रहे हैं और आपकी सारी बातें मान्य हैं किंतु परनाला तो यहीं गिरेगा अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से चल रही है और चलती रहेगी । शेष चिंता ? कौन जाने ? कैप्टेन कैंडी, कर्नल जार्विस, सर जगन्नाथ सब एकसाथ नत्थी कर दिए गए ।

15
शिक्षा-परिपत्र (1854)

1835 के मंकाले के शिक्षा-प्रस्ताव के उन्नीस वर्ष पश्चात् और 1857 के स्वतंत्रता आंदोलन से तीन वर्ष पहले कंपनी के डायरेक्टर्ज़ की ओर से 19-7-1854 को एक परिपत्र गवर्नर-जनरल के पास भेजा गया । उस समय सर चार्ल्स वुड बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष थे । यह परिपत्र उन्हीं की अध्यक्षता में भेजा गया था । इसीलिए इसको 'वुड्ज़ डिस्पैच' का नाम दिया गया है । यह परिपत्र इतना बृहद् विषयक है कि इसको 'मैग्नाकार्टा आफ इंडियन एज्यूकेशन' भी कहा गया है । ऐसा भी कहा गया है कि इस परिपत्र से पहले जो सोचा गया था और किया गया था उस सबका सार इसमें है और इसके बाद जो कुछ सोचा गया या किया गया उस सबका सार भी इसी में है । संक्षेपतः समस्त अंग्रेजी शिक्षा का आद्योपांत सूत्रपात शिक्षा-परिपत्र (1854) में है ।

1793 से लेकर, वास्तव में उससे भी पहले से, 1853 तक आए बीस वर्ष जब कंपनी का चार्टर पार्लमेंट के सामने पुनर्नवीनीकरण के लिए आया तभी शिक्षा के विषय पर विचार किया गया । और जब उस पर विचार किया गया तभी राज संबंधी विषयों पर विचार किया गया । 1853 में भी उसी प्रकार राज और शिक्षा, दोनों विषयों पर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से विचार किया गया ।

1853 के आस-पास एक और समस्या सरकार के सामने आ रही थी : क्या अंग्रेजी सरकार को भारत की जनता ने स्वीकार कर लिया है ? इसका उत्तर साफ नहीं मिल रहा था । पुराने समय की अपेक्षा राज-प्रशासन को कार्यकुशल और न्यायप्रिय तो माना जा रहा था किंतु फिर भी बहुत लोगों को रह-रह के पुराने समय की याद तो आती ही रहती थी । इसके अतिरिक्त केवल प्रशासन संबंधी कारणों से स्वराज को भुलाना कठिन है क्योंकि विदेशी राज की शासन व्यवस्था स्वराज का स्थान नहीं ले सकती । कैम्ब्रिज इतिहास में इस विषय की चर्चा की गई है । सर जॉन स्ट्रेची, पश्चिमोत्तरीय सीमाप्रांत के एक कुशल अंग्रेज प्रशासक थे । उनके प्रशासन क्षेत्र में से कुछ गांव एक रियासत में वापस किए जाने थे । रियासत का शासन बहुत ही अच्छा था । फिर भी लोग उधर जाने को तैयार नहीं थे और उन्होंने इस हस्तांतरण का कड़ा विरोध किया था । यह सब कुछ होते हुए भी स्ट्रेची महोदय का कहना था कि हमारी सरकार से प्यार किसी को नहीं था । भारत को प्रसन्न रखने के लिए मात्र प्रशासन में दक्षता से आगे कुछ और भी चाहिए था और शासन के अतिरिक्त कुछ और सरकार के पास था नहीं ।[1] यह बात 1857 से

1. 'दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', II, पृ० 169-70

चार वर्ष पूर्व की ही तो है ।

अंग्रेज प्रशासक, अफसर, फौजी, पादरी कोई भी भारतीयों से तो मिलते ही नहीं थे । मुगल और दूसरे शासक बाहर से आए और यहां बस गए । अंग्रेज बसने के लिए भारत नहीं आएं । ग्रांट और मकाले के भारत संबंधी विचार और भावना हम पहले ही देख चुके हैं । मकाले और उनके आस-पास ऐसे अफसर थे जिनकी ट्रेनिंग हेलीब्री कालेज में हुई थी और वे भारतीयों से केवल नफरत करते थे । वे कहते थे कि हिंदुस्तानी कपटी, पाखंडी, विश्वासघाती, मिथ्याचारी, निर्मम, कायर और मानसिक और शारीरिक दोनों तरह से इतने गंदे हैं कि वे केवल घृणा के पात्र हैं ।[2] यह मनोवृत्ति करीब-करीब सभी अंग्रेजों की थी । यहां तक कि पादरी भी तरह-तरह के भाषण भारतीय धर्म और संस्कृति के विरुद्ध देते रहते थे । जनसाधारण इन सभी लोगों में और सरकार में कोई अंतर नहीं समझते थे । इसलिए वे इस विदेशी सरकार से चिंतित रहते थे । चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने 1853 में ठीक ही कहा था कि हिंदू और मुसलमान दोनों में पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ लोग अधिक खतरनाक हैं क्योंकि वे दोनों अंग्रेज को अपना शत्रु समझते हैं । मुसलमान उसे काफिर कहते और हिंदू मलेच्छ । इसी कारण ट्रेवेल्यन का कहना था कि यदि भारतीयों को अपनी पूर्वकालीन स्वतंत्रता पर सोचते रहने दिया गया तो उनके मन में केवल एक बात रहेगी, और वह यह कि अंग्रेजों को निकाल कर बाहर फेंक दो । ठेठ हिंदुस्तानी देशभक्त को देशभक्ति का केवल यही एक रूप मालूम है ।[3]

उधर कंपनी डायरेक्टर्ज़ को भी यह चिंता प्रारंभ से ही लगी रही थी कि भारत के लोगों की सद्भावना प्राप्त करके राज की बुनियाद को पक्का किया जाए । साथ में अपने व्यापारी हितों की भी रक्षा की जाए । अतः 1853-54 में भी शिक्षा का यही उद्देश्य समझ कर विचार किया गया । अंग्रेज शासकों को मालूम था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों के मन में तो भारत के लिए कोई भावना रह नहीं गई थी । हम एच०एच० विल्सन के शब्दों को पहले ही उद्धृत कर चुके हैं ।

सबसे बड़ी चिंता एवं उद्देश्य जो शिक्षा-परिपत्र में व्यक्त किया गया वह यह था कि भारतीय जनता के मन में सामान्य रूप से अंग्रेज सरकार के प्रति सद्भावना कैसे उत्पन्न की जाए ? यह पहले की भांति शिक्षा के माध्यम से ही किया जा सकता था । अभी तक शिक्षा के माध्यम से जो काम किया गया था वह काफी नहीं था । एक तो काम ही किसी विशेष स्तर का नहीं हुआ था, दूसरे सारा रुपया अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च किया जा रहा था, अरबी, संस्कृत या भारतीय भाषाओं पर कोई पैसा खर्च ही नहीं होना था । अंग्रेजी में भी जो काम हुआ था वह भी थोड़ा ही था । बंगाल में प्रत्येक जिला नगर में इंग्लिश या एंग्लो-वर्नेक्युलर स्कूल खोले गए थे । मिशन स्कूल भी अंग्रेजी पढ़ाते थे । एंग्लो-वर्नेक्युलर स्कूल इंग्लिश के अतिरिक्त भारतीय भाषा भी पढ़ाते थे किंतु सबसे अधिक विद्यार्थी अंग्रेजी स्कूलों में जाते थे, विशेषकर सरकारी

2. माइकल एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 57-58
3. देखिए : सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1148

स्कूलों में क्योंकि वहां के विद्यार्थियों को नौकरी जल्दी मिलती थी । 1845 में सरकारी स्कूलों में कुल मिलाकर 17,360 विद्यार्थी थे और 30,000 मिशन स्कूलों में थे । कालेज शिक्षा का स्तर ऊंचा था । 1845 से 1849 तक चार वर्ष में कुछ 36 विद्यार्थियों ने परीक्षा पास की थी । मुसलमान अंग्रेजी को नहीं अपना रहे थे । 1837 में जब अंग्रेजी को सरकारी दफ्तरों की भाषा घोषित किया गया तो 8000 मुसलमानों ने कलकत्ते में इसका विरोध किया था । बंगाल से बाहर अंग्रेजी का विरोध अधिक था । बिहार के मुसलमान इसका विरोध कर रहे थे और 1858 तक पटना स्थित स्कूल इंसपेक्टर के दफ्तर को शैतान का दफ्तर कहा जाता था । बंबई में अंग्रेजी की मांग कम थी । केवल दस स्कूल 1850 तक खुले थे और उनमें 2000 विद्यार्थी थे । मद्रास में 1854 तक केवल तीन स्कूल थे । इनके अतिरिक्त कई मिशनरी स्कूल तो थे किंतु वहां ईसाइयत का बोलबाला था । इसलिए उच्च वर्ग के लोग अधिक संख्या में वहां जाने के लिए उत्सुक नहीं थे । उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत में लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्ज़ टॉमसन के द्वारा केवल भारतीय भाषा में शिक्षा देने का प्रयास किया जा रहा था । 1856 तक करीब दस लाख की आबादी पर एक स्कूल खुल पाया था ।[4] इतनी फीकी शिक्षा और उसके भी विरोध के कारण कोई सद्भावना सरकार के प्रति उत्पन्न होना कठिन था । साथ में जो अंग्रेजी पढ़े-लिखे नौजवान भी जनता और सरकार के बीच की कड़ी नहीं बन पा रहे थे उनके प्रति भी जनता में भय या ईर्ष्या तो हो सकती थी पर आदर या प्रेम तो नहीं ।

सरकार के प्रति सद्भावना वास्तव में सरकार द्वारा जनता की राजनीतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग था । यदि वही नहीं हो पाई तो राज की सेवा शिक्षा-माध्यम से होगी नहीं । मकाले और ग्रांट तो चाहते थे कि एक पीढ़ी के समय अर्थात् पच्चीस-तीस वर्ष में धर्म-परिवर्तन या संस्कृति-परिवर्तन के कारण देश का सांस्कृतिक और राजनीतिक नक्शा ही पलट जाएगा । सो तो हुआ नहीं । वास्तव में 1838 में चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने जो बात अपनी पुस्तक में लिखी थी वह ठीक थी । उन्होंने लिखा था कि किसी भी जाति की राजनीतिक शिक्षा में समय लगता है । यदि हम भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा दे सकेंगे तो ही हम सुरक्षित रहेंगे । शिक्षित वर्ग को जब यह महसूस हो जाएगा कि उनके देश की उन्नति हमारे सिद्धांतों के आधार पर हमारे संरक्षण में ही हो सकती है तो वे हमारे साथ बंधे चले आएंगे और हमसे बंधे रहेंगे ।[5] शिक्षा, शासन और व्यापार यही नई त्रिवेणी बन गई ।

यह तो रही केवल राजनीतिक शिक्षा की बात । अभी तो अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी सभ्यता का चस्का भी डालना था । ट्रेवेल्यन ने उस पर भी पूरा परामर्श दिया । उन्होंने ब्रिटेन में रोमन राज्य का हवाला देकर कहा कि ब्रिटेन के रोमन गवर्नर ज्यूल्यस अग्रीकोला की नीति यह थी कि ब्रिटेन के उच्च वर्ग के बच्चों को रोमन साहित्य और साइंस की शिक्षा देकर उनके मन में रोमन सभ्यता के संस्कार डालकर रोमन विलास का चस्का डाल दिया जाए । ऐसा

4. माइकल एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 118-20
5. 'एज्यूकेशन ऑफ द पीपल आफ इंडिया', पृ० 194-95